मार्च १९९६ हिंदी पत्रिका में प्रकाशित

क्रमशः...

धर्म और विज्ञान

– प्रो. पी. एल. धर, आई. आई. टी., नई दिल्ली – १६.

विज्ञान और भौतिकवाद

यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि पुनर्जागरण के बाद भौतिकवाद के प्रसार में विज्ञान की प्रगति का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। भौतिकवाद एक ऐसा दर्शन है जिसमें भौतिक पदार्थ को ही वास्तविक सत्य माना जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी तक विज्ञान ने इतनी प्रगति कर ली थी कि ग्रहों की गति से लेकर समुद्र में उठने वाली लहरों तक समस्त घटनाओं को अब 'प्रकृति के नियमों' के आधार पर अच्छी तरह समझा जा सकता था। इन सब में किसी महान परम दिव्य शक्ति के योगदान की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। यहां तक कि समस्त प्राणियों का उद्गम भी डार्विन के जैव उद्विकास सिद्धांत के आधार पर समझाया गया। डार्विन के सिद्धांत को ही आगे बढ़ाकर यह दिखाया गया कि सरलतम एककोशीय जीव – प्रोटोप्लाज्मा अनुकूल परिस्थितियों में निर्जीव पदार्थों जैसे नाइट्रोजन व कार्बन के यौगिकों से उत्पन्न हो सकते हैं। आदिकाल से इस जगत की उत्पत्ति के कारक ,सृष्टि-रचयिता की आवश्यकता ही ईश्वर पर विश्वास का मुख्य आधार-स्तंभ रहा है, यह इन खोजों के द्वारा हिला दिया गया। जीवन की चेतना व चित्त की विचारधारा को भी मस्तिष्क के 'कोर्टेक्स' नामक हिस्से में पायी जाने वाली गैंगलिओनिक कोशिकाओं के आधार पर समझाया जाने लगा। पिछली सदी के वैज्ञानिक इस बात पर अटल थे कि ब्रह्मांड की हर एक घटना को कुछ तत्त्वों व कुछ बलों की जानकारी के आधार पर समझाया जा सकता है। अतः कोई आश्चर्य नहीं कि साधारण मनुष्य के लिए भौतिकवाद व बुद्धि की असीम क्षमता में विश्वास वैज्ञानिक दृष्टिकोण का पर्याय बन गये। और कोई भी बात जो "बुद्धि के परे" की अवस्था को इंगित करती हो, अवैज्ञानिक मानी जाने लगी।

पिछले कुछ दशकों में इस परिस्थिति में काफी बदलाव आया है। सापेक्षतावाद के सिद्धांत व क्वांटम भौतिकी की प्रगति के बाद प्रकृति के बारे में वैज्ञानिक दृष्टिकोण में बहुत परिवर्तन आया है। पिछले दो दशकों में इस विषय पर कई बहुचर्चित पुस्तकें भी लिखी गयी हैं। यहां पर हम उन्हीं कुछ बिंदुओं पर चर्चा करेंगे जिनका हमारी विषयवस्तु से सीधा संबंध है।

विज्ञान की नयी विचारधारा

वैज्ञानिकों ने इस बात को खोज निकालने के लिए कई अन्वेषण किए कि पदार्थ अंततः किस चीज का बना हुआ है और इन्हीं अन्वेषणों द्वारा पदार्थ के हर हिस्से में पाये जाने वाले अत्यंत सूक्ष्म कणों जैसे इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन, न्यूट्रॉन आदि को खोज निकाला, जिन्हें मूल कण भी कहा जाता है। तो एक चित्र यह सामने आया कि हर पदार्थ अत्यंत नन्हें-नन्हें परमाणु-कणों से मिलकर बना हुआ है तथा यह आधारभूत कण इस हर एक परमाणु में एक विशिष्ट संरचना में रहते हैं। यह संरचना ग्रहों के सौर्य-तंत्र के समान ही पायी गयी। जिस प्रकार ग्रह सूर्य के ईद-गिर्द चक्कर लगाते हैं, ठीक उसी प्रकार परमाणु में एक भारी नाभिक (जो कि न्यूट्रॉन व प्रोटॉन कणों का बना होता है तथा परमाणु के मध्य-भाग में स्थित होता है) के चारों ओर इलेक्ट्रॉन अत्यंत तीव्र गतियों से चक्कर लगाते हैं, इसके अलावा परमाणु का अधिकांश हिस्सा शून्य या खाली स्थान ही होता है। पहले-पहल तो इन कणों को अन्य पदार्थ-कणों की भांति ही समझा गया; यद्यपि ये आकार में सूक्ष्म थे, कुछ-कुछ उन नन्हें-नन्हें धूल-कणों की भांति जो कमरे में प्रविष्ट होती हुई सूर्य की किरणों में दिखाई देते हैं। किंतु बाद में हुई खोजों ने एकदम भिन्न चित्र प्रस्तुत किया है। इन कणों पर किये गये प्रयोगों से यह पता चलता है कि ये न केवल ऊर्जा के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं बल्कि ऊर्जा से ही उत्पन्न भी हो सकते हैं। आइर्स्टीन के द्रव्यमान ऊर्जा-संबंध के सिद्धांत से भी यह बात प्रतिपादित होती है। अब चूंकि ऊर्जा एक गतिशील राशि है जो कि सक्रियता या किसी प्रक्रम से ही संबंधित होती है, इसका अर्थ यह हुआ कि कण को भी एक गतिशील पैटर्न की भांति ही समझना होगा, एक ऐसा प्रक्रम जिसमें ऊर्जा 'कण' के द्रव्यमान स्वरूप में प्रकट होती है। पदार्थ का यह अभिचित्रण हमारी सामान्य धारणा से बिल्कुल भिन्न है जिसमें हम पदार्थ के द्रव्यमान को उसमें अंतर्निहित मानते हैं। दूसरी ओर यह हमारे प्राचीन संतों व महापुरुषों की वाणी से पूर्णतया मेल खाती है। उनके अनुसार – "यहां कोई भी कर्ता नहीं है। मात्र कर्म है... मार्ग तो है परंतु कोई पथिक नहीं है।"

ऐसा लगता है कि आइर्स्टीन के सापेक्षतावाद को पूर्ण रूप से समझने में वैज्ञानिकों को भी अभी कई वर्ष लगेंगे। इस सिद्धांत के संदर्भ में मिन्कोवास्की के कथन –"आकाश व काल उस 'दिक्काल सांतत्यक' के प्रक्षेपण से उत्पन्न 'छाया' मात्र हैं जो कि एक स्वतंत्र निरपेक्ष वास्तविकता है" – को अभी तक ठीक से समझा नहीं जा सका है क्योंकि हम अपनी इंद्रियों द्वारा इस 'दिक्कालसांतत्यक' का अनुभव नहीं कर सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि इस जगत की वास्तविकता के बारे में इंद्रियग्राह्य निरपेक्ष समष्टि एवं निरपेक्ष काल पर आधारित हमारा अवगम ठीक नहीं हैं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार प्लेटो की विशिष्ट कृति "रिपब्लिक" में अँधेरी गुफा में बंद कैदियों का दृष्टिकोण था जिन्होंने दीवारों पर अपनी छायाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं देखा था और उन छायाओं को ही वास्तविक समझते थे। इस स्वतंत्र, परम सत्य के दर्शन के लिए हमें निश्चित रूप से इंद्रियों के परे जाना होगा, माया रूपी इस भ्रमजाल से बाहर आना होगा और जैसे भौतिक विज्ञानी फ्रिजोफ कापरा ने स्वामी विवेकानंदजी को उद्धृत करते हुऐ कहा है: सापेक्षतावाद का यह निरपेक्ष (एबसोल्यूट) और कुछ नहीं बल्कि महान संतों द्वारा अनुभूत नित्य, शाश्वत परम सत्य ही है क्योंकि समय, स्थान और निमित्त एक ऐसा पारदर्शी शीशा है जिसके पार इस परम सत्य के दर्शन किये जा सकते हैं। यह परम सत्य अपरिवर्तनशील एवं ध्रुव है – जहां समय, आकाश व निमित्त कुछ भी नहीं है। इस

अवधारणा से प्राचीन महापुरुषों व संतों द्वारा उद्धृत सत्य को एक 'वैज्ञानिक आधार' मिला है जिसकी वर्तमान युग में अत्यधिक आवश्यकता थी, क्योंकि उन्नीसवीं शताब्दी तक विज्ञान इंद्रियातीत ज्ञान की बात को मात्र अंधविश्वास ही मानता था।

इन मूल कणों की एक अन्य विशेषता जिसे परंपरागत धारणाओं के आधार पर नहीं समझा जा सका, ये है कि यह कण भिन्न प्रायोगिक परिस्थितियों में कभी तो तरंग के रूप में व्यवहार करते हैं, कभी कणों के रूप में। ऐसा लगता है कि इन कणों का कोई अंतर्निहित स्वभाव है ही नहीं जिसे किसी जिज्ञासु वैज्ञानिक द्वारा कभी खोज निकाला जा सके। वैज्ञानिक कापरा के शब्दों में; "इलेक्ट्रॉन के गुणधर्म जानने के लिये कैसा प्रयोग किया जाता है, इस पर भी परिणाम निर्भर करता है। एक प्रकार के प्रयोग में यह तरंग की तरह व्यवहार करता है, तो एक अन्य प्रयोग में कण की तरह दिखता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि इलेक्ट्रॉन की ऐसी कोई अंतर्निहित प्रकृति नहीं है जो कि मेरी स्वयं की सोच से (अर्थात मेरे मन से) स्वतंत्र हो।" सर जेम्स जीन्स के शब्दों में "ब्रह्मांड एक अत्यंत विशाल मशीन की भांति दिखाई न देकर एक बहुत विशाल विचारधारा के रूप में दिखाई देता है। मन पदार्थ जगत में एक अपवाद नहीं वरन उसका स्रष्टा व संचालक प्रतीत होता है। यह मन हमारा व्यक्तिगत मन नहीं बल्कि एक ऐसा मन है जिसमें वह परमाणु जिनसे हमारे व्यक्तिगत मन उत्पन्न हुए हैं, विचारों की भांति रहते हैं।" इन विचारों से यह स्पष्ट है कि परम सत्य की खोज के लिये चित्त के अत्यंत सूक्ष्म स्तर पर खोज करना आवश्यक है। विज्ञान भी अब इसी निष्कर्ष पर पहुँचता नजर आता है कि परम सत्य की खोज बाह्य जगत में नहीं वरन अंतर्जगत में करनी होगी, जैसा कि धर्म का प्रतिपादन करने वाले संतों ने सदा ही कहा है।

उपरोक्त वर्णन से यह भी स्पष्ट है कि इन मूल कणों का हम भौतिक या मानसिक चित्रण नहीं कर सकते क्योंकि इंद्रियों के आधार पर या तो हम कण-गति का अनुभव कर सकते हैं – जिसमें कि वह कण सुनिश्चित प्रक्षेप पथ पर चलता है – या फिर तरंग-गति का जिसमें केवल माध्यम ही गतिमान होता है। कण-गति एवं तरंग-गति का युगपत प्रेक्षण संभव नहीं। इस वास्तविकता की पहचान, क्वांटम भौतिकी के प्रमुख सिद्धांतों में से एक पूरकतावाद के सिद्धांत – का आधार है। महान वैज्ञानिक नील्स बोहर द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धांत के अनुसार; "सूक्ष्म मूल कणों के साथ किये गये किसी भी प्रयोग में हमें इन कणों की अंतर्निहित प्रकृति के बारे में जानकारी नहीं होती वरन इन कणों के वे गुणधर्म पता चलते हैं जो कि उस विशेष परिस्थिति एवं उपकरणों पर निर्भर होते हैं जिनमें उन्हें नापा जा रहा है।"

अतएव किसी एक प्रायोगिक परिस्थिति में उपलब्ध परिणामों को किसी अन्य प्रायोगिक परिस्थिति में प्राप्त परिणामों का पूरक ही समझना चाहिये। इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रायोगिक परिस्थितियों में प्राप्त परिणामों को एक ही वास्तविकता के भिन्न-भिन्न पूरक पहलू समझकर ही हम किसी वस्तु को समझने का प्रयास कर सकते हैं।

इस सिद्धांत के अत्यंत गहन सामाजिक व दार्शनिक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। यह सिद्धांत हमारे महान संतों की प्रज्ञावान वाणी को बल देता है कि इंद्रियों द्वारा सच्चाई को जानने की हमारी कोशिश उन्हीं पांच जन्मांध मनुष्यों की भांति है जो हाथी के भिन्न – भिन्न अंग को छूकर उसे जानने का प्रयास कर रहे थे। इस प्रकार प्राप्त किया हुआ ज्ञान सत्य के भिन्न-भिन्न पहलू तो दिखा सकता है परंतु पूर्ण सत्य को उजागर नहीं कर सकता। स्पष्टतया पूर्ण सत्य की जानकारी के लिये संतों द्वारा बताये गये अपरोक्षानुभूति या आत्मानुभूति के मार्ग पर चलना नितांत आवश्यक है।

सामाजिक स्तर पर यह सिद्धांत इंगित करता है कि बाहर-बाहर से परस्पर विरोधी दिखने वाली बातें, वास्तव में एक ही सत्य के भिन्न-भिन्न पहलू हो सकते हैं तथा बुद्धिमानी इसी में है कि हम उन्हें एक दूसरे का पूरक समझें। आधुनिक युग में जबकि बाहरी प्रतीति को लेकर ही अंतहीन संघर्ष, झगड़े एवं परस्पर दुर्भाव बढ़ रहा है, संपूरकता का सिद्धांत परस्पर सद्भाव, भाईचारे व मैत्री का संदेश देता है। नील्स बोहर की यह हार्दिक इच्छा थी कि यह सिद्धांत बच्चों को विद्यालय में ही पढ़ाया जाय ताकि वे सद्भावपूर्ण विश्व के निर्माण में सहायक हो सके।

विज्ञान की अन्य धाराओं जैसे जीवविज्ञान, मनोविज्ञान, रसायनशास्त्र, तंत्रिका विज्ञान आदि में हुए विकास ने भी एक नये दृष्टिकोण को जन्म दिया है जो कि भौतिकवाद का तो विरोध करता है किंतु पुरातन काल के संतों की विचारधारा से पूर्णतया मेल खाता है। अतीत के संतों को अंतर्दृष्टि से प्राप्त अनेक बातें जो कि अब तक जनसाधारण की समझ में नहीं आ सकी थीं, आज इन वैज्ञानिक तथ्यों द्वारा अच्छी तरह समझी जा सकती हैं।

उदाहरण के तौर पर "अनात्मबोध" के परम सत्य को लें जिसकी चर्चा प्रायः संतों की वाणी में मिलती है। परंतु यह एक ऐसा मूल सत्य है जो कि इंद्रिय-आधारित हमारे सामान्य दृष्टिकोण से समझना दुष्कर है। किंतु जब आधुनिक वैज्ञानिक हमें यह बताता है कि पदार्थ मूलतः ऊर्जा का ही स्वरूप है – और ऊर्जा कोई "प्राणी" नहीं वरन एक गतिमान प्रक्रिया है – तो अनात्मबोध की बात कुछ-कुछ समझ में आने लगती है क्योंकि यह ठोस लगने वाला शरीर ही, जिसे मैं निरंतर 'मैं', 'मेरा' कहता रहता हूं – व्यक्तित्व के भ्रम का जनक है।

इसी प्रकार, आधुनिक जैव वैज्ञानिक हमें बताता है कि मानव शरीर के १० की घात २८ ($१०^{२८}$) परमाणुओं में से ९८ प्रतिशत प्रतिवर्ष अपने आस-पास के वातावरण के साथ, अन्य मनुष्यों, पेड़-पौधों, पशुओं के ही नहीं, वरन समस्त जीवित व निर्जीव पदार्थों के साथ बदलते रहते हैं। इससे स्पष्ट है कि ये अपने-आप में सीमित, भिन्न-भिन्न दिखने वाली इकाइयां वास्तव में एक ही जैवधारा का अंग हैं। वाल्ट विटमैन की छवि-दृष्टि; "मेरा हर एक परमाणु तुम्हारा भी है", एक वैज्ञानिक सच्चाई है।

अणुजीव विज्ञान हमारे व्यक्तित्व की भिन्नता को जीनों की भिन्नता के द्वारा समझाता है किंतु यहां भी केवल जीन का पैटर्न वही रहता है; कार्बन, हाइड्रोजन व ऑक्सीजन के हजारों परमाणु जिनसे मिलकर यह बनता है; निरंतर बाह्य वातावरण से बदलते रहते हैं।

इस प्रकार अणुजीव विज्ञान के अनुसार भी हमारा अस्तित्व एक अभौतिक इकाई ही है – निरंतर परिवर्तनशील अणुओं का मात्र एक पैटर्न है, मात्र एक व्यवस्था है। इसके साथ ही यदि हाइजनबर्ग के अनिश्चितता के सिद्धांत से प्रतिपादित यह तथ्य भी जोड़ा जाय कि किसी भी सूक्ष्म मूल कण की स्थिति निश्चित रूप से नहीं बतायी जा सकती तथा क्वांटम के स्तर पर समस्त इकाइयां परस्पर जुड़ी हुई हैं – तो निश्चित रूप से हमें फ्रिटजौफ काप्रा के इन शब्दों को स्वीकारना ही होगा कि "क्वांटम क्षेत्र" ही एक आधारभूत भौतिक इकाई है, एक सर्वव्यापी सतत माध्यम है। कण उस क्षेत्र में स्थानीय संघनन के कारण प्रकट होते हैं। ये सांद्रताएं निरंतर बदलती रहती हैं और इस कारण ये कण अपना अस्तित्व खोकर इस सर्वव्यापी क्षेत्र में विलुप्त हो जाते हैं। स्पष्ट है, यह क्वांटम क्षेत्र एक अवैयक्तिक सत्य है, इंद्रियातीत परम सत्य का निकटतम प्रतीक है। इसी क्वांटम क्षेत्र का उपसमुच्चय विद्युत-चुंबकीय क्षेत्र है जिसके द्वारा हर घर में टेलीविजन पर एक जीवित व्यक्ति के प्रकट होने का भ्रम पैदा किया जा सकता है। इस उदाहरण से यह तथ्य समझना अपेक्षाकृत सरल हो जाता है कि वह आधारभूत क्वांटम क्षेत्र उस टेलीविजन के दर्शक के अस्तित्व का भ्रम पैदा करने में सक्षम है – जो कि "अनात्म बोध" का सार है।

निष्कर्ष

धर्म व विज्ञान दोनों ही प्रकृति के नियमों का प्रतिपादन करते हैं – एक मनुष्य के अंतर्जगत के लिए लागू होता है तो दूसरा बाह्य जगत के लिए। दोनों में कोई विरोध हो ही नहीं सकता। जैसा कि गैरी जुकाव ने अपनी पुस्तक में लिखा है – विज्ञान के सिद्धांत, बृहत्तर अभौतिक क्षेत्रों में कार्यरत अभौतिक तंत्र की भौतिक वस्तुओं एवं घटनाओं के जगत में एक झलक मात्र हैं। जब विज्ञान व उसके अन्वेषण "अनेक एएंद्रिक मनुष्य" की बुद्धि व उच्च कोटि के तर्क के माध्यम से समझे जाते हैं तब वे उतने ही परिपूर्ण लगते हैं जितना कि यह जीवन सर्वत्र व सदैव प्रदर्शित करता है। विज्ञान व वैज्ञानिक दृष्टिकोण बताता है कि हम मनुष्य स्वयं को संपूर्ण विश्व के संबंध में किस प्रकार देखते हैं। न्यूटोनियन भौतिकी मनुष्य को एक ऐसी प्रजाति के रूप में दिखाती है जो कि भौतिक विश्व को अपनी बुद्धि के आधार पर समझ लेने की अपनी क्षमता के बारे में पूर्णतया आश्वस्त है। सापेक्षवाद मनुष्य को एक ऐसी प्रजाति के रूप में दिखाता है जो यह समझती है कि परम सत्य एवं उसके प्रति हमारे व्यक्तिगत दृष्टिकोण में क्या सीमित संबंध है और क्वांटम भौतिकी मानव को एक ऐसी प्रजाति के रूप में दिखाती है जो अपनी चेतना व बाह्य भौतिक विश्व के संबंध को धीरे-धीरे समझ रही है।

इस बात में कोई अतिशयोक्ति नहीं कि आधुनिक विज्ञान की गहन समझ विकसित करने के लिए अपने भीतर एक ऐसी अंतर्दृष्टि जगाने की आवश्यकता है जो पांच मौलिक इंद्रियों से प्राप्त अनुभवों से अधिक परिपूर्ण अनुभव दिला सके। स्पष्ट रूप से 'अनेक एएंद्रिय मनुष्य' की इस विकास यात्रा को त्वरित करने के लिए प्रकृति के नियमों के अनुकूल धर्मनिष्ठ होना अत्यंत आवश्यक है। विपश्यना के नियमित अभ्यास से ऐसा संभव है।

विज्ञान व धर्म के संबंध को अलबर्ट आइंस्टीन के सुंदर शब्दों में उचित रूप से बताया जा सकता है – "धर्म के बिना विज्ञान अंधा है, क्योंकि धर्म यह 'दृष्टि' प्रदान करता है कि क्या किया जाना चाहिए तथा विज्ञान हमें वह क्षमता प्रदान करता है जिससे हम उन निर्देशों के अनुसार कार्य कर सकें।" विज्ञान के क्षेत्र में हुए विकास ने हमें अत्यधिक क्षमताओं व शक्तियों से युक्त कर दिया है किंतु ये क्षमताएं हमारा जितना भला कर सकती हैं उतना ही बुरा भी कर सकती हैं। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम इस शक्ति को संपूर्ण मनुष्य जाति के हित में लगाएं क्योंकि यदि ऐसा न किया गया तो मनुष्य जाति इन शक्तियों का दुरुपयोग कर स्वयं को ही नष्ट कर लेगी।

यह तभी संभव है जब हम अपना जीवन धर्मनिष्ठ होकर बिताएं – सदाचार (शील) का सतत पालन करें, समाधि के अभ्यास से इंद्रियों को अपने वश में करते जायें और अपने चित्त को 'विपश्यना' जैसी सुलभ विद्या के अभ्यास से निरंतर निर्मल करते जायें।

मृत्यु मंगल

गत कुछ महीनों में कई नियमित ध्यान करने वाले साधक साधिकाओं ने बड़े शांतचित्त से शरीर छोड़े, जिनके बारे में प्रेरणार्थ संक्षिप्त विवरण इस प्रकार हैं; –

● पूना की श्रीमती विमला कांतिलाल पारिख जो कि नियमित ध्यान करती थीं, के बारे में उनके पति श्री कांतिभाई ने लिखा है, वे अंतिम क्षणों में भी बहुत शांत रहीं। किसी प्रकार के कष्ट का एहसास नहीं होने दिया।

● ऐसे ही धुले की श्रीमती दौपदाबाई नथा देसले के बारे में श्री संभाजीराव बोरसे ने लिखा है कि किडनी, मधुमेह और दिल की कष्टदायक बीमारियों के बावजूद शांतचित्त से अंत समय तक विपश्यना करती रही और समतापूर्वक मृत्यु का आलिंगन किया।

● धुळे के ही सहायक आचार्य के पिता श्री नगराज पोपट बोरसे, जिन्होंने कि पांच शिविर किए थे और नियमित अभ्यास करते रहे। उन्हें लंबे समय तक अस्पताल में रहना पड़ा और बड़ी कष्टदायक बीमारी के कारण लगातार मशीन से कफ बाहर निकाला जाता रहा, तिस पर भी अंत समय अत्यंत शांत व सजग अवस्था में एक दीर्घ उश्वास के साथ प्राण छोड़ा। परिवार के सभी साधक अंतिम क्षण उनके साथ बैठकर ध्यान करते रहे। उन्होंने किसी प्रकार के बाह्य कर्मकांड व रुदन को पहले ही मना कर दिया था।

● नाशिक में रहने वाले अवकाशप्राप्त प्राध्यापक श्री विद्याधर तिवारी, जो कि मई, ९५ में पहली बार शिविर में बैठे पर यह विद्या उन्हें इतनी कल्याणकारिणी लगी कि अगले महीने ही पुनः शिविर में आये। परिवार वालों के मना करने पर कहने लगे, 'इस उम्र में इतनी कल्याणकारी विद्या मिली है। इसके सिवाय अब और क्या करना है!' अपनी कर्मभूमि वनस्थली विद्यापीठ, (राज.) के वार्षिक समारोह में जाने के पूर्व एक और शिविर जयपुर में करके वहां पधारे। पर वहां अचानक गिरे और तत्काल शरीर शांत हो गया। देर से पहुँचे

घरवालों ने बताया कि तब तक भी उनका चेहरा इतना दीप्त दिखायी दे रहा था कि मानो आराम से सो रहे हों। इससे स्पष्ट है कि अंतिम क्षणों में विपश्यना ने निश्चय ही लाभ पहुँचाया।

● बीरगंज(नेपाल) तथा रक्सौल में कई शिविरों की व्यवस्था का भार उठाने वाले श्री द्वारका प्रसाद सिकरिया के बारे में उनके पुत्र गोपीकृष्ण ने लिखा है, "पिताजी को 'एन्केफ्लाइटिस' नामक जानलेवा बीमारी थी, जिससे बचे तो हृदयरोग के दो दौरों के बाद बाईपास आपरेशन हुआ। फिर तो वे इतने सक्रिय हुए कि जनसेवा के भाव से अनेकों को शिविर के लिए भेजा और घर पर होने वाली सामूहिक साधना तथा दैनिक अभ्यास नियमित करते रहे। अंतिम समय तक कार्यालय के कागजात पर हस्ताक्षर किए और पूर्ण शांत व होश में रहे। मरणोपरांत भी उनके चेहरे पर शांति बनी रही। धन्य है विपश्यना, जिसके द्वारा आप लाखों लोगों को जीवन जीने की प्रेरक शिक्षा दे रहे हैं।"

इस विद्या का नियमित अभ्यास करके सभी लाभान्वित हों, धम्म-परिवार की यही मंगल कामना!